

साहित्य में दलित चेतना : एक अनुशीलन (Dalit Consciousness in Literature: A Persuasion)

अशोक अंकुशराव दाहिजे
(पीएच.डी. विद्यार्थी)

प्रस्तावना :

‘चेतना’ शब्द बड़ा ही व्यापक है। उसे बोध या चैत्य के समानार्थक शब्द के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। ‘चेतना’ प्राणिमात्र में रहने वाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव, जड़ पदार्थों से भिन्न बनाता है और उन्हें चैत्य सम्पन्न बनाकर जीवधारी सिद्ध करता है। ‘चेतना’ स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है।¹ दलित चेतना के स्वरूप को समझने के लिए पहले ‘सामाजिक चेतना’ यह संकल्पना जानना जरूरी है। सर विलियम हेमिल्टन ने भी ‘चेतना’ को अपरिभाष्य बताते हुए कहा है-‘चेतना’ की परिभाषा नहीं की जा सकती। हम केवल यह अनुभव कर सकते हैं कि चेतना क्या है, लेकिन हम चेतना को जो समझते हैं, जैसा अनुभव करते हैं, बिना किसी उलझन के दूसरों को बता नहीं सकते।

‘चेतना’ ही सारी सृष्टि का आधार है। कुछ अन्य विद्वान चेतना को मस्तिष्क का गुण धर्म मानते हैं, जिससे हम अन्य पदार्थों का, उनकी क्रियाओं- प्रतिक्रियाओं का, उनकी उन्नति, अवनति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार चेतना का सीधा एवं स्पष्ट सम्बन्ध पदार्थ से है। “ऐसी कोई अनुभूतियों और धारणाएँ देखने में नहीं आई हैं जो पदार्थ के बिना स्वतः पैदा हुई हों। -वैज्ञानिक तत्त्वों ने पुष्ट कर दिया है कि चेतना अविकसित पदार्थ, मानव-मस्तिष्क का गुण धर्म है।”²

इस गुण- धर्म के द्वारा मैं अपने आस-पास की घटनाओं का बोध प्राप्त होता है और हम विश्व को जान पाते हैं। अंतः चेतना के लिए न केवल मस्तिष्क अपितु पदार्थ अथवा वस्तुओं का होना भी आवश्यक है, जो मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं। संक्षेप, मैं, “चेतना ऐसे मस्तिष्क का गुण धर्म है, जो भौतिक विश्व के साथ अन्योन्याक्रिया करता है। उच्च विकसित पदार्थ की बाह्य विश्व को बौद्धिक बिम्बों के रूप में प्रतिलिखित करने की योग्यता ही चेतना है। उसी के द्वारा मनुष्य अपने चारों ओर के विश्व का संज्ञान प्राप्त करता है और अपने व्यावहारिक क्रिया- कलाप को सोद्देश्य बनाता है।”³

‘चेतना’ शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक अर्थों में ही किया जाता है। चेतन मानव की प्रमुख विशेषता ‘चेतना’ है जिसे वस्तुओं, विषयों व्यवहारों का ज्ञान भी काहा जा सकता है।⁴

मनोवैज्ञानिक अर्थ में- “चेतना सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों का सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों का संग्रहालय है।”⁴

एक अन्य धारणा के अनुसार चेतना अनुभवकर्ता द्वारा सांसारिक वस्तुओं का यथातथ्य अवलोकन ही नहीं अपितु उनकी परख तथा मूल्यांकन भी है।⁵ “वस्तुतः मनुष्य समाज में जन्म लेता है और उसी के बीच रहकर विभिन्न क्रियाकलाप करते हुए विकास की ओर अग्रसर होता है। यह एक समाजशास्त्रीय तथ्य है कि “व्यक्ति समाज की इकाई है। प्रत्येक व्यक्ति समाज से नाना रूपों में तथा अनेक सूत्रों से जुड़ा हुआ है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज में रहकर ही अपनी वास्तविक प्रकृतिका विकास करता है। वह सामाजिक क्रियाओंद्वारा ही अपने को अभिव्यक्त करता है और उसकी चेतना की संरचना भी सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। सामाजिक सम्बन्धों के माध्यमक से ही वह अपनी चेतना व्यक्त करता है।”⁶ ‘चेतना’ से ही मनुष्य में कोई कार्य करने की इच्छा और संवेदना उत्पन्न होती है। चेतना ही मानव को परिवर्तित और अपरिवर्तित परिस्थितियों के प्रति जागरूक करती है। भौतिकवादी चेतना को जड़-तत्त्वों के परमांश की विशिष्ट जातियों की परिणति मानते हैं। चेतना आत्मज्ञान से दीप्त होती है और जीवन का धर्म है। जिस

व्यक्ति के जीवन में चेतना का अभाव रहता है। वह प्रतिक्रिया और उपद्रव को सहन करता हुआ सुखमय जीवन व्यतीत नहीं करता, उसकी भौतिक निःस्पृहता में छिपा अन्तर अशान्त रहता है। चेतना में सदैव प्रवाहित होती रही है।

दलित समाज सदियों से अन्याय, अत्याचार झेलते आया है। दलित समाज पर लादी गयी यह अस्पृश्यता समुचे समाज पर एक लांछन है। इसी दलित समाज में जन्मे डॉ. बाबासाहब आंबेडकरजी ने दलित समाज को अपने अधिकारों के प्रति जागृत किया। उनमे सामाजिक चेतना निर्माण की। इस “सामाजिक चेतना” पद का प्रयोग भी व्यापक अर्थों में हुआ है; न यह केवल समूह के सामाजिक नियंत्रण से सम्बन्धित है अपितु के सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार पर भी प्रकाश डालती है।”⁶

इस प्रकार पशुओं से भिन्न अर्थात जनसमूह या जन-समाज की ज्ञानात्मिकता मनोवृत्ति का नाम सामाजिक चेतना है। सामाजिक चेतना का धर्म समस्त मानव का सम्बल है। सामाजिक चेतना मनुष्यों की आत्मिक एवं सत्तात्मक एकता का धर्म है। यह चेतना सब मनुष्यों में विद्यमान रहती है। इसीलिए सम्पूर्ण मानवता उस मूल चेतना का सूचक है। समाज पशुओं से भिन्न लोगों के समूह या संघ का नाम है। इस प्रकार सामाजिक चेतना को सभा कहा गया है। समाज मनुष्यों की मैत्री या कम से कम शान्ति की दशा का नाम है। व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं।

सामान्यतः सामाजिक चेतना से हम किसी देश एवं काल-विशेष से सम्बन्धित मानव-समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृतिक समझते हैं। ‘सामाजिक चेतना’ केवल समझ ही नहीं देती, अपितु वह सामाजिक उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा भी देती है और सामाजिक आयामों के विस्तार के साथ-साथ विकसित भी होती है। परम्परा से चली आ रह मान्यताओं, रुढ़ियों ओर संस्कारों के कारण कुंठाग्रस्त जनता के जीवन में आशा, प्रेरणा, आस्था एवं स्फूर्ति जागृत कर इन्हें एकसूत्र में पिरोना, सामाजिक चेतना का कार्य है। विभिन्न समाजों और एक ही समाज में भिन्नताओं के कारण सामाजिक चेतना का कार्य है। विभिन्न समाजों और एक ही समाज में भिन्नताओं के कारण सामाजिक चेतना भी भिन्न रूपी हो सकती है, किन्तु मूलतः इसमें समाज- सुधार, सामाजिक प्रगति अथवा समाजोत्थान का प्राधान्य रहता है। यही सामाजिक चेतना के प्रेरणा स्रोत माने जाते हैं।

दूसरे शब्दों में सामाजिक चेतना से अभिप्रायः समाज के दायित्वों के बोध से है। व्यक्ति समाज-कल्याण की दिशा में प्रवृत्त हो और समाज के प्रश्नों को समझे तथा उनके समाधान में भी सचेष्ट और सक्रिय हो। इसके लिए व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाना होता है एवं उसमें समाज के प्रति अपनत्व की भावना अपेक्षित है, इसके हेतु व्यक्ति को स्वार्थपरता और अहं आदि से मुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार व्यक्ति की सामाजिक चेतना का आशय यह हुआ कि वह समाज से अपने को जुड़ा हुआ महसूस करें अर्थात समाज के प्रति अपनेपन की गहरी भावना हो, साथ ही वह समाज की समस्याओं को बारीकी से समझे और उन समस्याओं के समाधान की दिशा में सक्रिय हो। सामाजिक चेतना सामाजिक वातावरण के प्रभाव से व्यक्ति नैतिकता और उच्च व्यावहारिकता प्राप्त करता है।

वैसे भी सामाजिक चेतना समाज के संघर्षों, तनावों के बीच जागरूक लोगों में उत्पन्न होती है। वे समाज के प्रश्नों, रुढ़िग्रस्तता, जाति-प्रथा, सामन्तवाद, शोषण, स्वार्थपरता, पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाते हैं तथा समाज के कल्याण का मार्ग खोजते हैं, जिससे समाज का नव-निर्माण हो सके और समाज प्रगति के रास्ते पर अग्रसर हो सके। डॉ. रत्नाकर पाण्डेय के अनुसार, “जनसमूह अथवा जन-समाज की ज्ञानात्मिकता मनोवृत्ति का नाम सामाजिक चेतना है।”⁸ सामाजिक चेतना युक्त साहित्यकार यदि समाज में उपस्थित कुरीतियों से समझौता कर लेता है तो उसके द्वार श्रेष्ठ साहित्य का सृजन नहीं हो पाता। वैसे भी समकालीन यथार्थ की घटनाओं से निरपेक्ष रहकर अच्छे साहित्य का सृजन सम्भव नहीं हो पाता। मानसिक असन्तोष से ही कलाकृति का जन्म होता है। साहित्यकार युग-द्रष्टा और युग-स्त्रष्टा होता है, वह समसामयिक युग को देख कर ही सर्जन-कार्य में प्रवृत्त होता है। वह हमेशा औचित्य का पोषक होता है, और अनुचित को नकारता है। वह अपने साहित्य द्वारा मानवता और समाज का कल्याण करता है। दार्शनिक होने के कारण

साहित्यकारक के पास विचारधारा होती है जो कि योजनाबद्ध होती है और योजनाबद्ध विचारधारा ही समाज का नव-निर्माण करती है। साहित्यकार समाज के सजग मनुष्यों में से होता है। वह असाधारण व्यक्ति होता है तथा अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है। जब वह जीवन के अपने चारों ओर के वातावरण, वस्तुओं और घटनाओं को देखता है, तो उनमें से कुछ घटनाएँ अथवा परिस्थितियाँ साहित्यकार के मस्तिष्क को उद्वेलित करती रहती हैं, उसे तब तक चैन से नहीं बैठने देती, जब तक वह अपनी प्रतिक्रियाओं को साहित्य के रूप में अभिव्यक्त न करत दें। जहाँ उसकी, दृष्टि समाज के यथार्थ पर टिकी होती है, वहाँ वह समाज के हित के लिए कुछ आदर्श भी प्रस्तुत करता है।

साहित्यकार को यथार्थ और आदर्श दोनों का समन्वित रूप लेकर ही समाज के नवनिर्माण की कल्पना करनी चाहिए। वैसे भी साहित्यकार नैतिकता में दृढ़ विश्वास रखता है, वह न्याय और सत्य की जीत देखना चाहता है। वह आशावादी होता है, मानवता में उसकी पूर्ण आस्था होती है। उसका यह विश्वास है कि समाज के असत और सत व्यक्तियों का हृदय भी परिवर्तित किया जा सकता है। साहित्यकार को साहित्य-सृजन के समय मानव-हित को ध्यान में रखना चाहिए। मानव हित से हमारा तात्पर्य सामाजिक हित से है। समाज के हितों की उपेक्षा करके कोई भी रचनाकार जीवन्त साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। साहित्यकार का एकमात्र लक्ष्य मानव हित ही होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है- “हमें जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहित्य चाहिए-साहित्य जो मानवमात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो”⁹⁰ जहाँ साहित्यकार को पग-पग पर समाज-हित का ध्यान रखना पड़ता है, वहीं साहित्य मनुष्य को इन्सान बनाने में भी सहायक होता है। साहित्य उसके स्वार्थपरता के बन्धनों से दूर करता है और समाज के हित को सोचने के लिए प्रेरित करता है। इसी मत की पुष्टि करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुल्क का कथन है- “मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मण्डल बाँधता चला जा रहा है, जिसके भीतर बाँधा-बाँधा वह शेष दृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर बना रहता है। इसी से अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ चली आ रही है और चली चलेगी।”⁹¹ अतः साहित्यकार के साहित्य के उत्कर्ष और अपकर्ष पर निर्भर करता है। साहित्यकार की पुकार समाज की पुकार हाती है, वह समाज के दुःख-दर्द और उसकी समस्याओं का सशक्त एवं सजीव रूप में प्रस्तुत करता है।

किसी भी देश या राष्ट्र की उन्नति-अवनति, उसके गुण-दोष, उसकी व्यवस्था, आर्थिक-सामाजिक, सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया के यदि कही दर्शन हो सकते हैं तो केवल उस देश के साहित्य से। वहाँ की कला, सभ्यता और मानवता का विकास भी उस सो के साहित्य से ही ज्ञाता है, क्योंकि साहित्यकार अपने युग और उसकी परिस्थितियों का चितेरा होता है। समाज से उसे जैसी सामग्री मिलती है, उसका वह अपने दृष्टिकोण से सदुपयोग करता है। साहित्यकार उस बात को कहता है जिसको सब लोग अनुभव तो करते हैं, पर कह नहीं सकते। साहित्य की प्रेरणा से समाज अपना रूप बदलता है, साहित्यकार, समाज के लिए मार्गदर्शन ही नहीं करता, उसका मनोरंजन भी करता है। क्योंकि समाज की अच्छी-बुरी सब दशाएँ साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। जब समाज का बुरा रूप साहित्य में चित्रित होता है तो उसे दोकर जनता को अपने आत्म-सुधार की आवश्यकता होती है। रूप में टालस्टाय और गोर्की ने अपने साहित्य द्वारा यही कार्य किया। अपने देश में भी अनेक कवियों और लेखकों ने अपनी रचनाओं में देश की दासता और दारिद्र्यता का वर्णन किया है। सच्चा साहित्यकार वही है जो नीलकण्ठ शंकर की तरह स्वयं तो विषपात करता है। परन्तु अमृत अपने भक्तों में बाँटता है। दूसरे शब्दों में यह भी काह जा सकता है कि साहित्यकार की स्थिति मेघ के समाज होती है जो समुद्र के खारे जल के ग्रहण कर निर्मल और मधुर जल के रूप में तृषित पृथ्वी को समर्पित करता है। साहित्यकार का साहित्य समाज की प्रतिच्छाया है। अतः साहित्य समाज को दिशा, गति, बल, आनन्द और विकास देता है तो समाज साहित्यकार को फलने-फूलने का अवसर व खाद्य- सामग्री प्रदान करता है। आने वाले परिवर्तनों की अग्रिम सूचना देने के कारण ही उसे युग का अगुआ, पहरेदार जैसे विशेषणों से सम्बोधित किय जाता

है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज से निरपेक्ष रहकर साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य का सर्जन नहीं कर सकता। इसके साथ साहित्यकार को भी उसका युग बनाता है, काल कण्ड विशेष में जो सामाजिक चिन्तन प्रचलित है, उससे लेखक प्रभावित होता है। उस युग-प्रभाव में अपना व्यक्तिगत चिन्तन और कल्पना जोड़कर साहित्यकार साहित्य की रचना करता है। जब-जब समाज पर आपत्तियों के बादल मंडराते हैं, तब-तब कोई साहित्यकार अपनी वाणी में सत्य, त्याग और बलिदान की आवाज भरकर समाज को सत्यपथ पर चलाता है। इस प्रकार साहित्यकार समाज के बहुमुखी विकास में अपना हाथ बैठाता है।

संदर्भ :

१. डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, हिन्दी विश्वकोश, भाग-चार, पृ १८२.
२. समाज-विज्ञान-प्रगति प्रकाशन, (मास्को), पृ.४७.
३. वही, पृ. ४८.
४. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ. ३१९-२०.
५. Encyclopaedia of Social Sciences, Volume-III, IV, P. 212.
६. Encyclopaedia of Social Sciences, Volume-III, IV, P. 213.
७. R.M. Maclver & C.H. Page, Society P. 231.
८. Encyclopaedia of Social Sciences, Volume-III, IV, P. 219.
९. डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, हिन्दी साहित्य: सामाजिक चेतना, पृ. १५५.
१०. आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ. १५२.
११. आ. रामचन्द्र शुल्क, चिन्तामणि, भाग-१, पृ. १४.

